

ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आचार्य : भरत

डॉ० पूनम राय

प्रवक्ता, सेंट जॉन्स अकादमी, करछना, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

सारांश

साहित्य-शास्त्र में जितनी कृतियाँ उपलब्ध हैं उनमें भरतकृत नाट्यशास्त्र प्राचीनतम है। नाम्ना यद्यपि यह नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का ही ग्रन्थ प्रतीत होता है, किन्तु यह विविध कलाओं का आकार ग्रन्थ है। इतिहास में इस ग्रन्थ को इतना महत्व प्राप्त हुआ कि इसकी महिमा के प्रकाश में सजातीय ग्रन्थों की खद्योतमाला ऐसी निम्न हो गई कि काल की गति उन्हें सर्वथा विस्मृति के गर्त में धकेल गयी।

मूल शब्द : साहित्य-शास्त्र, नाट्यशास्त्र, भरत।

प्रस्तावना

पिछले एक शतक से नाट्य शास्त्र के रचयिता भरतमुनि के व्यक्तित्व के विषय की तरह नाट्य शास्त्र की रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों ने श्रमपूर्वक अन्वेषण किया और उनका यह प्रयास अनेक निष्कर्षों पर निकालने पर भी फलप्रद ही रहा। इस क्रम में प्रथम उद्योग नाट्यशास्त्र के 1-14 अध्याय के सम्पादक पी० रेग्नों तथा जे० ग्रॉसे ने किया तथा नाट्यशास्त्र का रचनाकाल इसके काव्य शास्त्रीय तथा छन्द शास्त्रीय स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए ईसवीसन से कम से कम एक शती पूर्व निर्धारित किया। हरप्रसाद शास्त्री ने नाट्य शास्त्र के विभिन्न तत्वों के विश्लेषणों के उपरान्त इसका निर्माण काल पी० रेग्नों की तरह ईसा पूर्व दो शती निर्धारित किया। कर्नल श्री जेकेबी ने नाट्यशास्त्र की प्राकृतभाषा के अंशों का विश्लेषण करते हुए नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसा की तीसरी शती निर्धारित कर डाला। प्रो० सिल्वा लेवी ने नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त शब्दों के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय निश्चित करने का उद्योग किया। इनके मत में स्वामी सुगृहीतनामा आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर नाट्यशास्त्र का समय निश्चित होता है, क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग नहपाण तथा चष्टन क्षेत्रों के शिलालेखों में आया है। अतएव शिलालेखों में प्रयुक्त उपर्युक्त शब्दों के साम्य तथा शक आदि जातियों के उल्लेख के कारण नाट्यशास्त्र का रचनाकाल ईसवी दूसरी शती अर्थात् इन क्षेत्रों के स्थितिकाल के आसपास का समय है। नेपाल शब्द का प्रथम उल्लेख समुद्रगुप्त प्रशस्ति में तथा महाराष्ट्र शब्द का महावंश (ईसा पूर्व 5वीं शती) तथा ऐहोल अभिलेख (ई० 634) में मिलता है, काणे ने इसी आधार का निषेध करते हुए यह प्रतिपादित किया कि ऐसा क्यों न माना जाए कि इन देशों का प्रथम उल्लेख नाट्यशास्त्र में ही हुआ है, क्योंकि प्रथम उल्लेख होने से यह निश्चय नहीं हो सकता कि इन देशों के इसके पूर्व ये नाम ही नहीं थे तथा इन शिलालेखों में इन देशों के पश्चाद्वादी काल में उल्लेख होने से नाट्यशास्त्र का रचना काल आगे नहीं बढ़ाया जा सकता है। सेबुबन्ध काव्य (प्रवरसेनप्रणीत) में महाराष्ट्री प्राकृत का जिस परिष्कृत रूप में प्रयोग हुआ है उससे महाराष्ट्री प्रयोग करने वाले जनपद का इन शिलालेखों के रचनाकाल के सदियों पूर्व अस्तित्व का अनुमान लगाया जा सका है। काणे के अनुसार नाट्यशास्त्र में उल्लिखित विश्वकर्मा, पूर्वचार्य, कामसूत्र आदि के उल्लेख से नाट्यशास्त्र

का काल ईस्वी सन् के प्रारम्भ से पूर्वभावीकाल की ओर अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता किन्तु इसके बाद की तिथि को ही अधिक निश्चय के साथ स्वीकार किया जा सकता है। कालिदास ने स्पष्ट रूप से विक्रमोवशीर्य में भरतमुनि को नाट्यशास्त्र का आचार्य स्वीकृत कर उनके द्वारा स्वीकृत आठ रसों की चर्चा की है। बाण ने भरतप्रवर्तित संगीत का उल्लेख किया है। नाट्यशास्त्र में केवल चार ही अलंकारों का उल्लेख मिलता है जब कि दण्डी, भामह आदि द्वारा इसकी संख्या को तीस तक पहुँचाया गया था। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि छठी शती तक नाट्यशास्त्र का पाठ स्थिर हो चुका था। श्री कीथ तथा श्री रेप्सन ने नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तीसरी शती मानते हुए इससे अधिक उत्तरभादिता का प्रतिषेध किया। डॉ० री मनोमोहन घोष ने नाट्यशास्त्र के अंग्रेजी भाषान्तर की भूमिका में भाषा वैज्ञानिक, छन्दः शास्त्रीय खौगोलिक, जाति आदि सामग्री के आधार तथा काव्य शास्त्र संगीतशास्त्र, कामशास्त्र एवं बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के ऐतिहासिक साक्ष्य तथा अभिलेखों के सामग्री के प्रकाश में नाट्यशास्त्र के रचनाकाल पर विस्तार से विचार किया है। इनका मत है कि प्रवृत्तियों के साथ भौगोलिक अभिधानों की संयोजना महाभारत एवं अन्य पुराणों के अनुकरण पर नाट्यशास्त्र में संयोजित की गई है। श्री मनोमोहन घोष ने क्षेत्रपादि के अभिलेखों में विद्यमान नाट्यशास्त्रीय समताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए बतलाया कि इनमें प्रयुक्त गान्धर्व, सौष्टव तथा नियुद्ध शब्द नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अधिक अनुकूल हैं। अतः नाट्यशास्त्र का स्थितिकाल दूसरी शती से पूर्वभावी तो है ही। कालिदास तथा भास भी नाट्यशास्त्र से परिचित अवश्य थे इसका कारण कालिदास ने अंगहार, वृत्ति, सन्धि, वस्तु, मायूरी आदि नाट्यशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है तथा भास ने विदूषक, प्रस्तावना, सूत्रधार, मुद्र मुख जैसे नाट्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होना। भास का समय (ईसा से पूर्वभावी) कौटिल्य से भी प्राचीन माना है, इसलिए नाट्यशास्त्र का समय भास से निश्चित ही पूर्ववर्ती है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के स्थिति काल के विनिश्चय में प्रत्येक विवेक विद्वान ने पर्याप्त ऊहापोह किया है परन्तु इसे निश्चित काल विशेष में निर्भ्रान्त स्थिर करना कठिन है। यह निश्चित है कि नाट्यशास्त्र कालिदास तथा भास के पूर्ववर्ती है। इस संदर्भ में हमारी दृष्टि नाट्यशास्त्र की उपरली सीमा पर ही पहुँचाती

है जिसके प्रभाव की परिधि में भास तथा अश्वघोष जैसे प्राचीन नाटककार आते हैं।

यदि नाट्यशास्त्र के सूत्रभाष्य शैली के स्वरूप पर विचार करें तो इसकी अतिप्राचीनता स्पष्ट होगी सूत्रकाल के आस-पास रचित होने के कारण कदाचित् सूत्ररूप नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद कहकर वेद सदृश सम्मान भी दिया गया है। यदि नाट्यशास्त्र के सूक्ष्ममय स्वरूप में उत्तरकाल में कुछ आर्याएँ तथा पद्यात्मक विवरण तथा यवनादि जुड़ते गये होंगे तो केवल इतने आधार को लेकर समग्र नाट्यशास्त्र को अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। क्योंकि इसके प्रतिज्ञात के महत्वपूर्ण तथा अधिक विस्तृत भाग की रचना ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती हो गयी थी। यदि इसमें कुछ प्रक्षिप्तांश का समायोजन हुआ भी हो तो वह एक दो शती में यत्र तत्र हुआ होगा जैसा कि अनेक पुराणों, महाभारत आदि में भी हुआ है। मनोमोहन घोष तथा रामकृष्णकवि दोनों नाट्यशास्त्र के अधिकारी विद्वान तथा समग्र नाट्यशास्त्र के सम्पादक तथा अनुवादक भी थे। दोनों के विस्तीर्ण मनन का एक ही परिणाम है – नाट्यशास्त्र की ईसा पूर्व पाँचवीं शती में स्थितिकाल निर्धारण, जो स्वीकार्य ही प्रतीत होता है।

इन सभी निष्कर्षों को दृष्टि में रखने पर यह अनुमान सहज ही लगता है कि ईसा से पाँच शती पूर्व नाट्यशास्त्र का ऐसा रूप लोक-प्रसिद्ध अर्जित कर चुका जिसमें भाव, रस, प्रेक्षागृह, रूपक-विभेद आदि का विवरण तथा तथा जिसका ज्ञान, भास, अश्वघोष, कालिदास जैसे नाट्यकारों को था। इसके बाद तो ऐसा कोई भी काव्य अथवा नाट्यशास्त्रीय आचार्य कृतिकार नहीं था जो इसके प्रभाव क्षेत्र में अपनी रचना का निर्माता न हुआ हो। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईस्वी पूर्व पाँचवीं शती से पूर्व ही जब नटसूत्रादि के रूप में नाट्य – विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ पाणिनी की अष्टाध्यायी (समय 800 ईसा पूर्व की रचना) के समय बन चुके थे तो इससे भी पूर्ववर्ती नाट्य प्रयोग किसी सशक्त परम्परा से अनुप्राणित थे। अतएव पाणिनी के तीन सौ वर्ष पश्चात् नाट्यशास्त्र का रचना काल माना जाये तो यह प्रामाणिकता के अधिक समीप होगा जो निश्चित रूप में ईसा से पाँच शती पूर्ववर्ती है।

भारत का “नाट्यशास्त्र” रस-सिद्धान्त का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र शताब्दियों से प्रवर्तित काव्य-शास्त्र का विकसित रूप कहा जा सकता है न कि इस परम्परा का प्रवर्तन करने वाला आदि ग्रन्थ। नाट्यशास्त्र से पता चलता है कि भारत से पूर्व रस का विवेचन प्रौढ़ता को प्राप्त हो गया था और उन्होंने पूर्वचार्यों की समस्त उपलब्धियों का उपयोग कर अपने विवेचन को पूर्ण बनाया था।

विभिन्न ग्रन्थों में भारत-पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनमें वासुकि सदाशिव, अगस्त्य, व्यास, नन्दिकेश्वर, वृद्ध भरत, आजनेय आदि मुख्य हैं। जनश्रुति के आधार पर नन्दिकेश्वर इस के और भरत नाट्यशास्त्र के आचार्य माने गये हैं। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा काव्य पुरुष के जन्म की कथा दी है, जिसमें कहा गया है कि काव्य-पुरुष ने काव्य शास्त्र के अट्टारह अधिकरणों को लिखने के लिए अपने अट्टारह शिष्यों को नियुक्त किया था उनमें नन्दिकेश्वर ने रस और भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रणयन किया।

रूपकनिरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।

भारत ने नाट्यशास्त्र के छठे एवं सातवें अध्याय में रस का विस्तार के साथ विवेचन किया है जो नाटक और रंगमंच को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया गया है। उक्त ग्रन्थ के दोनों

अध्याय ‘रसविकल्प’ एवं ‘भावव्यंजक’ के नाम से प्रसिद्ध हैं। नाट्यशास्त्र में रस का विवेचन अत्यन्त ही व्यापक एवं व्यवस्थित है, जिसे देखकर उससे पूर्ववर्ती सिद्धान्तों की प्रौढ़ता का भी ज्ञान होता है कि नाट्यशास्त्र कोई आकस्मिक कृति नहीं है। इन्होंने आठ ही रस माने हैं तथा प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, संचारी एवं स्थायी भाव तथा सात्विक भाव का भी परिचय दिया है।

शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।

वीभत्सादभुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृतः।

नाट्यशास्त्र में मुख्य चार ही रस माने गये हैं – शृंगार, रौद्र, वीर एवं वीभत्स। इन्हीं चार रसों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति हुई। जैसे – शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत एवं वीभत्स से भयानक की।

शृंगाराद्धि भवेद्भास्यो रौद्रच्च करुणो रसः।

वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः।।

इन्होंने रसों के रंगों का वर्णन करते हुए कहा है कि शृंगार का श्याम, हास्य का श्वेत, करुण का कपोत वर्ण, रौद्र का रक्त, वीर का गौर, भयानक का काला, वीभत्स का नीला, एवं अद्भुत का पीत वर्ण होता है। शृंगार के देवता विष्णु, हास्य के प्रमथ, रौद्र के रुद्र, करुण के यम, वीभत्स के महाकाल, भयानक के काल वीर के महेन्द्र एवं अद्भुत के देवता ब्रह्मा हैं।

इन्होंने भावों संख्या 49 बताई है। स्थायी भाव-8, व्यभिचारी भाव-33 एवं सात्विक भाव-8 हैं। इस प्रकार भारत के अनुसार विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति या उत्पत्ति होती है अर्थात् स्थायी भाव अन्य 41 भावों के साथ मिलकर रसत्व को प्राप्त होता है—

विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।

भारत ने बताया है कि अन्य भावों के साथ स्थायी भाव का सम्बन्ध राजा एवं उसके सहचारी जैसा है। जिस प्रकार नरों में नृपति एवं शिष्यों में गुरु का स्थान होता है उसी प्रकार सभी भावों में स्थायी भाव की महत्ता है।

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।

एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिहः।।

भारत के कवि के आन्तरिक भावों या मानसिक आवेगों को भाव की संज्ञा दी है। विभाव को इन्होंने रस का कारण माना है, इसीलिए विभाव को कारण, निमित्त एवं हेतु का पर्याय कहा है। नाटक में वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनय का विशेष रूप से ज्ञान कराने वाले तत्व को विभाव कहते हैं।

विभावः कारण निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः।

विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्ग सत्त्वाभिनया इत्यतो विभावः।

रस के स्वरूप का विचार करते हुए भारत ने कहा है कि जिसका आस्वादन किया जाय वह रस है।

जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के व्यजनों से सुसंस्कृत अन्न को खाने वाला व्यक्ति अन्न के रस का आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार नाना प्रकार के भावों एवं अभिनयों के द्वारा किये गये

वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सामाजिक आनन्द प्राप्त करते हैं।

रसं इति कः पदार्थः.....पुरुषा इत्यभिव्याख्याताः
तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान्.....'सुमनस' इत्यभिव्याख्याताः

भरत ने विभिन्न रसों के कई भेदों का उल्लेख किया जिनमें से कुछ तो परवर्ती आचार्यों द्वारा ग्रहीत हुए और कुछ अप्रचलित रहें।

शृंगार रस के इन्होंने दो भेद किये – सम्भोग एवं विप्रलम्भ। ये दोनों प्रचलित भेद हैं। परवर्ती साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थों में इन्हीं दोनों भेदों का विवेचन किया गया है। शृंगार के अन्य भेद, जो अप्रचलित है वाङ्मय क्रियात्मक।

शृंगार का वर्णन करते हुए इन्होंने कहा है कि संसार में जो कुछ पवित्र शुद्ध, उज्ज्वल एवं दर्शनीय होता है उसकी शृंगार से उपमा दी जाती है। यह रति स्थायी भाव से उत्पन्न होता है और उज्ज्वलवेषात्मक होता है। उज्ज्वलवेष वाला पुरुष ही शृंगारी पुरुष होता है। शृंगार रस परस्पर अनुरक्त स्त्री-पुरुष में ही उत्पन्न होता है, इसमें आलस्य, जुगुप्सा एवं उग्रता के अतिरिक्त शेष तीस संचारी भाव होते हैं।

तत्र शृंगारो नाम.....प्रयोक्तव्यः।
व्यभिचारिण.....अभिनेतव्यः।

हास्य के प्रचलित भेद छः हैं। जो उत्तम, मध्यम एवं अधम श्रेणी के पात्रों के आधार पर निरूपित किये गये हैं। बीर रस के भरत कृत तीन भेद हैं – दानवीर, धर्मवीर एवं युद्धवीर। हास्य रौद्र एवं वीर के अन्य तीन भेद हैं – अंग, नेपथ्य, वाक्यात्मक। ये भेद अप्रचलित हैं।

भरत का रस विवेचन लौकिक आधार पर अधिष्ठित है एवं इसमें व्यवहारिकता का अधिक समावेश है। इसमें मुख्यतः रस का विवेचन रंगमंच की दृष्टि से किया गया है, इसलिए इसमें व्यवहारिकता है तथा सामाजिक तत्व का समावेश हो गया है। भरत ने रस की ऐसी परिभाषा दी जो काल के प्रवाह की गति को तोड़कर आज भी उसी रूप में समाहृत है। रस के विभिन्न अवयवों का विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान की प्रक्रिया से साम्य रखता है।

उस समय तक किसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के आविष्कार नहीं होने पर भी भरत ने भावों एवं रसों का ऐसा विश्लेषण किया है जो बहुत कुछ अद्यतन मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से मेल रखता है। भरत कृत रस की व्याख्या दार्शनिक न होकर नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल है तथा उसमें लौकिकता एवं सामाजिकता के बीज वर्तमान है।

कालान्तर में नाट्यशास्त्र के विभिन्न व्याख्याताओं ने विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर रस की व्याख्या उपस्थित की किन्तु भरत के विवेचन में किसी प्रकार का दार्शनिक पूर्वाग्रह नहीं दिखाई पड़ता। भरत प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने दर्शन को लौकिक भावभूमि पर बैठाया एवं उसमें नैतिक तत्वों का संस्पर्श कराया। सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी होने के कारण ही इन्होंने शान्त-रस का विवेचन नहीं किया, क्योंकि रंगमंच पर इसका अभिनय संभव नहीं है। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि भरत का विवेचन अत्यधिक वैज्ञानिक, लौकिकतापूर्ण एवं नैतिक धरातल पर आधारित है, तथा उसमें आलोचना शास्त्र के शाश्वत गुण वर्तमान हैं, जिसे युग की आँधी कभी भी डिगा नहीं सकती है।

भरत कृत रासमीमांसा नाटक पर आधारित है। अतः इनका प्रधान उद्देश्य है प्रेक्षक के मन में रस का संचार कर उसे आनन्दमग्न करना। नाटक के तीन तत्व वस्तु, नेता एवं रस में, रस एक प्रमुख तत्व है, अन्य तत्व तो रस के ही उपकारक हैं। वस्तुतः भरत के अनुसार नाटक का मुख्य लक्ष्य रस की निष्पत्ति ही है। जिससे सामाजिक के हृदय में अपूर्व आह्लाद की अनुभूति हो सके। रस की उत्पत्ति भाव से ही होती है।

भरत ने रसास्वादन की विधि पर विचार करते हुए पाक-रस की प्रक्रिया को ही उपस्थित किया है। उपभोक्ता की तरह सामाजिक या दर्शक को नाट्यरसों का आस्वादन होता है एवं उससे हर्षादि की प्राप्ति होती है। भरत के अनुसार सामाजिक में विशेष प्रकार की योग्यता होनी चाहिए, तभी वह रस का सम्यक् रूप से आनन्द ले सकता है। उसे 'सुमनस' होना आवश्यक है, अर्थात् वह काव्य-रस के नियमों से परिचित हो। रसास्वादन एवं उससे हर्ष की प्राप्ति दोनों भिन्न तथ्य हैं क्योंकि रसास्वादन कारण है एवं हर्ष की प्राप्ति कार्य।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. काव्य मीमांसा, राजशेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याभवन, वाराणसी, 1964।
2. नाट्यशास्त्र, श्री बाबू लाल शुक्ल, शास्त्री चौखम्बा संस्कृत, सीरीज आफिस; वि०सं० 2029।
3. अभिनव भारती, अभिनवगुप्त, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा; 1963।
4. काव्यालंकार, भामह, बाल मनोरमा सीरीज, मद्रास; 1956।
5. काव्यालंकार, श्री रामदेव शुक्ल, चौखम्बा-विद्याभवन, वाराणसी; 1967।
6. रस-सिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, आनन्द प्रकाश दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; 1972।
7. काव्य-दर्पण, विद्या वाचस्पति पंडित रामदहिन मिश्र, ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना; 1973।
8. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त, प्रो० राजवंश सहाय 'हीरा', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी; 1967।
9. काव्य मीमांसा, राजशेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याभवन, वाराणसी, 1964।
10. श्रीवाग्भटाचार्य विरचितः रसरत्न समुच्चयः, पं० श्री धर्मानन्द शर्मणा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना; 1962।